बेणारे उठकर खड़ा होता है, पूरी ...

बेणारे : हाँ! बहुत कुछ कहना है मुझे। *(अँगड़ाई लेकर)* कितने बरस बीत गए, कुछ कहा ही नहीं। क्षण आए, चले गए। एक के बाद एक तूफान आए, मगर कंठ में ही घुटकर रह गए। छाती में प्राणान्तक आक्रोश उठे, किन्तु इर बार होंठों को कसकर भींच लिया। लगा कि कोई भी इसे जान नहीं सकेगा, कोई भी समझ नहीं सकेगा इसे। जिस समय शब्दों का प्रचंड ज्वार उमड़ता हुआ आकर होंठों से टकराने लगता है तो लगता है वह मेरे आसपास रहने वाले आदमी कितने नामसझ, पागल और बचकाने हैं। सभी! वह भी, जो नितान्त अपना है। दिल करता है उन पर भी जी भर हँसती रहूँ। बस, हँसती ही रहूँ। और तब मन फूट-फूटकर रो उठता है और इतना रोता कि आँतें ऐंठने

लगती हैं। लगता कि हृदय फट जाए तो अच्छा हो। जिन्दगी कितनी सारहीन लगती। एक गहरा निःश्वास भरकर मगर प्राण नहीं जाते और न जाने पर फिर उसके महत्व का अहसास होता है। आने वाला हर क्षण फिर कितना नया और अनोखा लगता है। आकाश, पक्षी, बादल, किसी सूखे तरु की धीरे से झाँकती हुई कोई टहनी और खिड़की में हिलता हुआ परदा। चारों ओर फैली हुई नीरवता और कहीं दूर से आती हुई अस्पष्ट आवाजें, हॉस्पिटल की दवाओं की भभक यह सब भी तब जिन्दगी की रस से परिपूर्ण लगती हैं। लगता है जिन्दगी चौकड़ी भरती हुई मेरे लिए गीत गा रही है। कितना ज्यादा था आत्महत्या की असफलता का आनन्द। जीवित रहने की वेदना से भी ज्यादा... *(गहरी साँस भरकर)* जिन्दगी को व्यर्थ जानकर फेंकने लगोगे, तभी उसके अस्तित्व का एहसास होगा, मजा है न? सँजोकर रखो तो फेंक देने की इच्छा हो और फेंक दो तो उसके बच जाने का सुख मिले, कुछ भी सम्पूर्ण नहीं है। बार-बार वही, उसी तरह *(शिक्षिका की तरह)* जीवन ऐसा है, जीवन वैसा है, जीवन अमुक है, जीवन तमुक है—जीवन चिन्दी-चिन्दी होकर बिखरता हुआ एक ग्रन्थ है, जीवन यानी विश्वासघात है, जीवन यानी प्रतारणा है, जीवन यानी नशा है, जीवन यानी आवारागर्दी है। जीवन, यानी ऐसा कुछ है जो कुछ नहीं है या ऐसा कुछ भी नहीं है जो सचमुच कुछ हो। *(सहसा कोर्ट के अनुरूप पोज लेकर)* मी लॉर्ड! जीवन एक भयंकर हस्ती है। जीवन को फाँसी पर लटका देना चाहिए। 'जीवन जीवन मर्हति' जीवन की पड़ताल करके उसे नौकरी से निकाल देना चाहिए। लेकिन क्यों? क्यों आखिर? अपने काम में मैंने कभी कोई कोर-कसर की? प्राण देकर अपने बच्चों को बनाया है मैंने। शिक्षा दी है। जानती थी मैं, यह जिन्दगी आसान नहीं है। आदमी बहुत क्रूर हो सकता है। अपने सगे-सम्बन्धी भी जानने-समझने की तवालत नहीं उठाएँगे। इस जीवन का बस एक ही

सत्य है—शरीर! आप इससे इन्कार करें तो करें, करते रहें। मगर यही सत्य सर्वमान्य है। भावना तो बस आवाज में कम्पन पैदा करके मीठी-मीठी बातें करने की अदा है। मैं देख रही थी सब कुछ! उसी में जी रही थी और भीतर ही भीतर झुलस रही थी। मगर क्या इस बात को कोई जानता है कि उन नन्ही-नन्ही कोंपलों को मैंने अपने उस झुलसन की आँच भी नहीं लगने दी। इस विष को अकेले पचाया है मैंने। वह जानते भी नहीं। उन्हें तो मैंने सौन्दर्य की शिक्षा दी है। मन में उमड़ती हुई हिचकियों को दबाकर उन्हें बेतहाशा हँसाया है मैंने। मन की निराशा को छुपाकर आशावादी बनाया है उन्हें। कौन सा वह गुनाह है जिसके आधार पर तुम मेरी नौकरी मेरी इकलौती खुशी छीन रहे हो मुझसे? मेरा निजी चरित्र मेरी अपनी समस्या है। अपने इस गुनाह का दंड क्या भोगना होगा, इसे मैं निश्चित करूँगी जैसे हर व्यक्ति को करना चाहिए। इस पर उँगली उठाने का अधिकार किसी दूसरे को नहीं मिल सकता। हर किसी का अपना अलग व्यक्तित्व मार्ग और फिर अन्त होता है। मगर वह सार्वजनिक कैसे हो सकता है? *(एकाएक स्कूल के हल्के-फुल्के मूड में)* शश ऽऽऽ आवाज बन्द। साइलेन्स! कितना शोर? *(कठघरे से निकलकर सब तरफ घूमने लगती है, जैसे क्लास रूम में चल रही हो।)* एकदम चुपचाप बैठे रहो सब। *(निश्चेष्ट बैठे हुए एक-एक व्यक्ति को बारी-बारी से देखकर)* बेचारे बच्चो! जानते हो यह सब कौन हैं?

[एक-एक चेहरे पर प्रकाश केन्द्रित होता है। सबके चेहरे भयानक, जड़वत् प्रेत जैसे दिखाई देते हैं।]

: यह बीसवीं शताब्दी के सुसंस्कृत मानव के अवशेष हैं। देखो ये चेहरे कितने जंगली लग रहे हैं। होंठों पर घिसे-पिटे खूबसूरत औपचारिक शब्द हैं, भीतर अतृप्त और विकृत वासनाएँ...।

[स्कूल का पीरियड खत्म होने का घंटा। बच्चों का अस्पष्ट-सा शोर। उसे सुनती-सुनती वह क्षण भर के लिए तल्लीन हो जाती है। आवाजें दूर होती अन्ततः डूब जाती हैं। एक चुप्पी। वह जैसे सोते से जागती है। अपने चारों तरफ देखती है और उस चुप्पी से बहुत भयभीत हो जाती है।]

: नहीं-नहीं, मुझे ऐसे अकेली छोड़कर न जाओ रे, बच्चो। मुझे इनसे भय लगता है—बहुत भय लगता है। *(भय से मुँह छुपाकर व्याकुल स्वर में)* कबूल करती हूँ, मैंने पाप किया है। मैंने माँ के भाई से प्रेम किया है। मगर घर के बन्धनों के बीच...मेरी खिलती-गदराती हुई देह की बहार में अकेला वही तो मेरे करीब आया था—उसी ने तो उस बहार का दिन-रात बखान किया था...लाड़ किया, दुलराया...मुझे क्या पता कि हृदय से जिसके साथ एकरूप होने की तीव्र इच्छा होती हो...जिसके केवल संसर्ग से सम्पूर्ण जीवन सार्थक-सा लगता हो वह अगर माँ का भाई है तो सब कुछ पाप में बदल जाएगा। अरे कुल चौदह साल की तो थी मैं। पाप क्या होता है यह जानती भी नहीं थी मैं—माँ की सौगन्ध। *(छोटी बच्ची की तरह बिलखकर रोती हुई)* मैंने विवाह के लिए जिद की थी तो सिर्फ इसलिए कि औरों की तरह एक सुखी गृहस्थी की कल्पना मेरे मन में भी थी। मगर सबके साथ मेरी माँ ने भी उसका विरोध ही किया। मेरा पुरुष दुम दबाकर भाग गया। इतना क्रोध आया उस पर कि जी चाहा सरे बाजार खड़ा करके उसका मुँह तोड़ दूँ। थूक दूँ उसके मुँह पर! पर उस समय मैं बहुत छोटी थी, कमजोर थी, अनजान थी। अपने को मृत्यु के हवाले करने के लिए घर के छज्जे पर से कूद पड़ी। मगर मर नहीं सकी, सोचा, तन से नहीं मर सकी तो मन से तो मर ही गई हूँ। मगर मैं मन से भी नहीं मर सकी थी। मैंने फिर से प्रेम किया था। सोच-समझकर किया। प्रौढ़

उम्र में किया—सोचा था कि यह प्रेम कुछ और तरह का है। यह प्रेम नहीं श्रद्धा है। यह एक अनूठी बौद्धिकता के प्रति आकर्षण है। यह प्रेम हो ही नहीं सकता, यह तो भक्ति है। मगर फिर मैंने भूल की। मन द्वारा की गई उस भक्ति में तन का नैवेद्य चढ़ गया। और नैवेद्य पाते ही मेरी बुद्धि का देवता मुकर गया। उसे मेरी भक्ति की, मेरी श्रद्धा की दरकार कहाँ थी? बिल्कुल ही नहीं थी। *(हल्के स्वर में)* वह देवता था ही नहीं। वह मनुष्य था। बस। फिर वही शरीर! *(चीखकर)* यह शरीर ही सारा अनर्थ करता है। *(वेदना से व्याकुल होकर)* इस शरीर से घृणा है मुझे। और बहुत-बहुत प्यार भी है। इस पर क्रोध आता है, मगर इसके अस्तित्व को नकार नहीं सकती मैं। तो फिर? वह तो रहेगा ही और तेरा होकर ही रहेगा। इसे छोड़कर तू जाएगी कहाँ? और यह भी तुझे छोड़कर कहाँ जाएगा। कृतघ्न मत बन। यही है वह शरीर जिसने तपकर तुझको एक अतिशय सुखदायी स्वर्गिक तृप्त क्षण दिया था। भूल गई? यही है वह जिसने तुझे शरीर से परे—बहुत ऊँचे दिव्यलोक में उस क्षण पहुँचा दिया था। इन्कार करेगी? बोल। और अब उसी में तो पनप रहा है उस क्षण का साक्षी एक नन्हा कोमल अंकुर...हाँ। मेरे बच्चे का है वह बीज मेरे प्राण का! जो कल हँसता-खिलखिलाता, नाचता-थिरकता एक जीव होगा। यह शरीर मुझे चाहिए—उसके लिए यह शरीर मुझे चाहिए। सचमुच चाहिए। *(आँखें बन्द हो जाती हैं। उसी आवेग में कुछ बुदबुदाती रहती है।)* उसे माँ चाहिए—पिता का हकदार है वह। उसे घर चाहिए... संरक्षण चाहिए...प्रतिष्ठा चाहिए...।

[अन्धकार। उजाला। सेकंड की टिकटिक। बेणारे कठघरे में पहले की तरह निश्चल और चुप। अन्य सभी अपनी-अपनी जगह पर।]

ज्योति : आप किया कीजिए बातें विस्तार से, और ठंडे दिमाग से। मेरे पास समय नहीं। ठंडा दिमाग भी नहीं। मुझे अपनी लड़ाई लड़ने की खातिर जाना है। रात को जब अरुण शराब के नशे में धुत्त होकर मेरे सामने आता है, तो उस वक्त आइए कभी, हिम्मत हो तो। उसकी आँखों में जंगली जानवर उतर आता है, होठों पर, चेहरे पर...शरीर के एक-एक अंग में अरुण जानवर होता है, जानवर की प्रकृति उससे अलग नहीं होती है। शुरू-शुरू में पागल की तरह मैं उस अरुण को ढूँढ़ा करती थी जो बुरी प्रवृत्तियों से परे हैं, वही धुन बाँध लेती थी, उसे बाँहों में समेट लेती थी। अनुभव ने सिखाया मुझे, कि ऐसा कभी नहीं होता। जानवर भी अरुण होता है और प्रेमी भी अरुण ही होता है। राक्षस भी अरुण ही है और कवि भी अरुण ही है। और दोनों एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं, एक में एक हैं, एक हैं। कुछ इतने एकसाँ कि कई बार पता नहीं चलता कि कौनसा राक्षस है और कौनसा प्रेमी! प्रेम के उन्माद में मिलती हैं गन्दी-गन्दी गालियाँ और पिटते-कुटते समय अचानक भावुक और गहरे चुंबनों की बारिश! खौफनाक दुर्दशा झेलकर टूटी देह सो जाती है और जब उठकर काम में लग जाती है तो हाथ लगती हैं टीसती व्यथा को छलकाती अधूरी कविता की चार भावभीनी पंक्तियाँ...उन पंक्तियों से नये सिरे से प्रेम करना आरंभ करते हैं और इधर कान में घुसती हैं नीच और धूर्त योजनाएँ कि कैसे फलाँ-फलाँ ईमानदार हितैषी को उल्टे छुरे से मूँडा जाए। ...यह सब एक ही मनुष्य करता हैं, एक ही समय करता है! मुझे बतलाइए, कौनसी पशुता को जड़ समेत नष्ट करूँ, कौन से भगवान को जगाऊँ? बतलाइए। ....इन सबको मिलाकर ही अरुण बना है और जैसा बना है, वैसा ही मुझे स्वीकारना है, क्योंकि मैं उसे नकार नहीं सकती...

पात्र - ज्योति

नाटक - कन्यादान

नाटककार - विजय तेन्डुलकर